

प्रारूप (FYUGP, MODEL) प्रश्न एवं उत्तर

पूर्णांक : 75

कोड :-

MJ - 01

समय : 3 घंटे

निर्देशानुसार सभी प्रश्नों के उत्तर दें।
उपांत के अंक पूर्णांक के द्योतक हैं।
परीक्षार्थी यथासंभव अपने शब्दों में उत्तर दें।

खण्ड – 'क'

(वस्तुनिष्ठ, अनिवार्य प्रश्न)

प्रश्न 01 : निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दें : **01 x 05 = 05**

- क) हिंदी साहित्य के आदिकाल को 'संधि-चारण काल' किसने कहा ?
- ख) 'भरतेश्वर बाहुबली रास' के रचयिता कौन हैं ?
- ग) रैदास किस काल के कवि हैं ?
- घ) निर्गुण भक्ति धारा के दो कवियों के नाम लिखिए।
- ङ) अष्टछाप के किन्हीं दो कवियों के नाम लिखें।

(लघूत्तरीय)

प्रश्न 02 : निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखें : **5 x 2 = 10**

- क) पृथ्वीराजरासो
- ख) कबीरदास
- ग) रामचरितमानस

खण्ड – 'ख'

(दीर्घ उत्तरीय प्रश्न)

प्रश्न 03 : निम्नलिखित में से किन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर दीजिए : **15 x 4 = 60**

- क) हिंदी साहित्य के आदिकाल की समय सीमा निर्धारित करते हुए बतलाइए कि इसे 'वीरगाथाकाल' कहना कहाँ तक उचित है ?
- ख) 'रासो' से आप क्या समझते हैं ? हिंदी रासो काव्य परंपरा का परिचय दीजिए।
- ग) हिंदी जैन साहित्य का परिचय दीजिए।
- घ) हिंदी रामकाव्य परंपरा पर प्रकाश डालिए।
- ङ) 'सूफी काव्य' से आप क्या समझते हैं ? हिंदी सूफी काव्य परंपरा पर एक निबंध प्रस्तुत कीजिए।

च) निर्गुण एवं सगुण काव्यधारा के साम्य-वैषम्य को उद्घाटित कीजिए।

खण्ड – 'क'

(वस्तुनिष्ठ, अनिवार्य)

प्रश्न 01 : सभी प्रश्नों के उत्तर दें :

क) हिन्दी साहित्य के आदिकाल को 'संधि-चारण काल' किसने कहा ?

उत्तर :- रामकुमार वर्मा

ख) 'भरतेश्वर बाहुबाली रास' के रचियता कौन है ?

उत्तर :- शालिभद्र सूरि

ग) रैदास किस काल के कवि हैं ?

उत्तर :- भक्तिकाल

घ) निर्गुण भक्ति धारा के दो कवियों का नाम लिखिए ?

उत्तर :- दादू दयाल और कुतुबन

ङ) अष्टछाप के किन्हीं दो कवियों का नाम लिखें ?

उत्तर :- सूरदास, कृष्णदास

(लघूत्तरीय प्रश्न)

प्रश्न 02 : निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखें :

ख) कबीरदास –

कबीरदास भक्तिकाल की निर्गुण-धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि हैं। इनके जन्म के समय भारतवर्ष की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में अशांति और अव्यवस्था का साम्राज्य था। राजनीतिक दृष्टि से मुसलमानों के आतंक से पीड़ित हिन्दू जनता राजाओं का भरोसा छोड़कर हताश हो चुकी थी और उसने अपने को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया था। धार्मिक दृष्टि से नाथ पंथियों और सिद्धों ने रहस्यात्मक चमत्कारात्मक तन्त्र-मन्त्र, पर्व आदि की निस्सारता बताकर वे लोग हठयोग तथा अन्य शारीरिक क्रियाओं द्वारा ही ईश्वर प्राप्ति का उपदेश दे रहे थे। सामाजिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर कलह और कटुता, द्वेष और अविश्वास बढ़ता जा रहा था। विचार संकीर्णता दोनों ओर छाई हुई थी। ऐसी स्थिति में एक ऐसे पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता थी जो कर्तव्यविमूढ़ जनता का नवीन मार्ग प्रदर्शन कर सके। कबीरदास ऐसे

ही महापुरुष थे। उन्होंने हिन्दू मुसलमानों में सद्भावना और प्रेम उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये। महात्मा कबीर का जन्म सम्वत् 1456 में हुआ था। कबीर पंथियों ने इनके जन्म के संबंध में यह दोहा लिखा है—

“चौदह सौ छप्पन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ भये।

जेठ सुदी बरसाइत को, पूरनमासी प्रगट भये।।”

किंवदन्ती के अनुसार कबीर रामानन्द जी के आशीर्वाद के फलस्वरूप एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। लोक-लाज के कारण इन्हें लहर तारा नामक तालाब के किनारे छोड़ आई थी। वहाँ से नीमा और नीरू नामक जुलाहा दम्पति आये, जिनके द्वारा इनका पालन-पोषण हुआ। कबीर के बाल्यकाल का विवरण अभी तक अज्ञात ही है। पर इतना अवश्य है कि उनकी शिक्षा यथोचित नहीं हुई थी। उन्होंने स्वयं कहा है—

“मसि कागद छुओ नहीं, कलम गही नहिं हाथ।”

कबीर प्रारंभ से ही हिन्दू वेदान्त से प्रभावित थे। इसीलिए वह स्वामी रामानन्द के शिष्य हुए। कुछ लोग इन्हें सूफी फकीर शेख तकी का शिष्य मानते हैं। कबीर की पत्नी का नाम 'लोई' थी। इनकी दो संतानें थीं— एक कमाल नाम का पुत्र और दूसरी कमाली नाम की पुत्री। मृत्यु के समय कबीर काशी से मगहर चले गये थे। उन्होंने कहा है—

“सकल जन्म शिवपुरी गवाया, मरति बार मगहर उठि धाया।”

लोगों का यह विश्वास है कि काशी में मृत्यु होने से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाता है, परंतु कबीर इस धार्मिक अंधविश्वास के घोर विरोधी थे, इसलिए वे काशी से मगहर चले आये थे। यद्यपि लोगों ने कहा था कि मगहर में मरने से नर्क मिलेगा, आप काशी ही चले जाइए। परंतु कबीर ने यही उत्तर दिया—

“जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहि कौन निहोरा।”

कबीर की मृत्यु माघ सुदी एकादशी सम्वत् 1575 में हुई थी, जैसा कि इस दोहे से स्पष्ट होता है—

“सम्वत् पन्द्रह सौ पछत्तर, कियो मगहर को गौन।

माघ सुदी एकादशी, रत्नो पौन में पौन।।”

संक्रांतिकाल में पथ-प्रदर्शन करने वाले किसी भी व्यक्ति को जहाँ जनता के अंधविश्वासों और मूर्खतापूर्ण कृत्यों का खण्डन करना पड़ता है, वहाँ उसे समन्वय का एक बीच का मार्ग

भी निकालना पड़ता है। यही कार्य कबीर को भी करना पड़ा। जहाँ उन्होंने पण्डितों, मौलवियों, पीरों, सिद्धों और फकीरों को उनके पाखण्ड और ढोंग के लिये फटकारा वहाँ उन्होंने एक ऐसे धर्म की स्थापना की जिसके द्वार सबके लिए खुले थे। एक ओर उन्होंने हिंदुओं के तीर्थ, व्रत, मठ, मन्दिर, पूजा आदि की आलोचना की तो दूसरी ओर मुसलमानों के रोजा—नमाज और मस्जिद की भी खूब निंदा की। माला फेरने वाले पण्डित पुजारियों के विषय में उन्होंने कहा—

“माला फेरत युग गया, गया न मनका फेर।

करका मनका डारि कै, तू मनका मनका फेर।।”

कबीर निर्गुणवादी थे, साकार भक्ति में उन्हें विश्वास न था, इसीलिए स्थान—स्थान पर उन्होंने मूर्ति—पूजा का विरोध किया—

“पाहनपूजे हरि मिले, तो मैं पूजूं पहार।

याते तो चक्की भलि, पीस खाय संसार।।”

मुसलमानों की ईश्वर पूजा मस्जिद में ‘अजाँ’ के माध्यम से होती है। अजाँ देने वाला काफी जोर से चिल्लाता है। कबीर को यह अखरता था, वे कहते थे कि तुम्हारा खुदा क्या कुछ कम सुनता है—

“कांकर पाथर जोरि के, मस्जिद लई चुनाय।

ता ऊपर मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।।”

मांस भक्षण का विरोध—प्रदर्शन करते हुए लिखा है—

“बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।

जो नर बकरी खात है, ताको कौन हवाल।।”

साहित्य के क्षेत्र में कबीर पंडित तो थे, परंतु पुस्तकों के पण्डित नहीं थे। वे प्रेम का ‘ढाई अक्षर’ पढ़कर पण्डित हुए थे। उनकी विधिवत शिक्षा—दीक्षा नहीं हुई थी। कवि के लिए प्रतिभा, शिक्षा, अभ्यास ये तीनों बातें आवश्यक होती हैं। कबीर ने न तो शिक्षा ही प्राप्त की थी और न ही किसी गुरु के चरणों में ही बैठकर काव्य शास्त्र का अभ्यास ही किया था। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वे ज्ञान से शून्य थे। भले ही उनमें परावलम्बी ज्ञान रहा हो, परंतु स्वावलम्बी ज्ञान की उनमें कमी नहीं थी। उन्होंने सतसंग से पर्याप्त ज्ञान संचय किया था। वे बहुश्रुत थे, उनके काव्य में विभिन्न प्रतीकों तथा अलंकारों की छटा दिखाई पड़ती हैं। उनके रूपक और उलटवासियों के विरोधाभास तो अद्वितीय हैं।

भाषा सधुक्कड़ी होने पर भी अभिव्यक्तिपूर्ण है। कबीर ने कविता के माध्यम से अपने भावों और विचारों को जनता तक पहुँचाने का कार्य किया। कबीर के हृदय में सत्यता थी, आत्मा में बल था, इसीलिए उनकी वाणी में ओज था, शक्ति थी।

तुलसी और सूर की रचनाओं के बाद, लोकप्रियता एवं प्रभावोत्पादकता में कबीर का ही काव्य आता है। मिश्र बंधुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में कबीर को तुलसी और सूर के पश्चात् तीसरा स्थान प्रदान करके न्याय ही किया है। कबीर दास की वाणी का संग्रह 'बीजक' नामक ग्रंथ में संकलित है। जिसके तीन भाग हैं 'साखी', 'सबद' और 'रमैनी'। इसका संकलन धर्मदास ने किया था।

ग) रामचरितमानस –

यह ग्रंथ हिन्दू संस्कृति का सारभूत ग्रंथ है। महाकवि तुलसीदास द्वारा रचित अवधी भाषा में रामकथा पर आधारित महाकाव्य है। इसकी रचना 1574 ई० में अयोध्या में आरंभ हुई तथा इसका अंतिम भाग काशी में समाप्त हुआ। यह सात काण्डों का प्रबंध काव्य है। भारत के अधिकांश प्रांतों में तथा उत्तर भारत में इस ग्रंथ को अधिक-से-अधिक लोग पढ़ते हैं। वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत की तुलना में इस ग्रंथ के प्रति अधिक लोग आकर्षित हैं। इसमें लोग अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देख पाते हैं।

हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य जिसका लेखन प्रारंभ चैत्र शुक्ल 9, मंगलवार को हुआ था, सात काण्डों में विभक्त यह ग्रंथ है। फिर भी कथा का विस्तार इतना है कि महाकाव्य के सर्गों से अधिक है। इसमें मात्रिक और वार्णिक छंदों का यथास्थान प्रयोग हुआ। तुलसी ने दोहों और चौपाई छंद में मानस की रचना की है। इसमें राम का उत्तम चरित्र चित्रित है। मानस का मुख्य रस शांत है लेकिन शृंगार, वीर, करुण आदि सभी रसों का परिपाक अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है। विभिन्न भावों को युक्त यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है। तुलसी अपने मनोरम वर्णन द्वारा श्रोता के मन पर अधिकार कर लेते हैं। मानस एक चरित्र प्रधान ग्रंथ है। इसमें संवादों की सजीवता, चरित्र का सूक्ष्म चित्रण, वार्तालाप की उत्कृष्टता परिलक्षित होती है। मानस की रचना तुलसी ने अपने युग की आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान के लिए की थी। यह वह है कि ईश्वर साकार है या निराकार ? तुलसी ने यह सिद्ध किया है कि यह तर्क का विषय नहीं अनुभव और विश्वास का विषय है। अपने विश्वास और आस्था के बल पर हम उसे इस रूप में अनुभव कर सकते हैं। जीवन का प्रमुख ध्येय उसी का साक्षात्कार और इसके लिए सूक्ष्म उपाय है

भक्ति। इस ग्रंथ का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। यह अपूर्व ग्रंथ है। विश्व साहित्य में इसकी समता करने वाला ग्रंथ दुर्लभ है। तुलसी ने रामचरित मानस के बारे में अपनी रचना में निर्देशित करते हुए कहा है—

“संवत सोरह सौ इकतीसा। करऊँ कथा हरिपद धरि सीसा।

नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥

.....
मिल कथा कर कीन्ही आरंभा। सुनत नहि काम मद दंभा ॥

परंतु मानस की समाप्ति कब हुई यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मूल गुसाई चरित के अनुसार राम—विवाह की तिथि को अगहन मास में सं० 1633 को इसकी रचना पूर्ण हुई तथा इसकी रचना में दो वर्ष, सात मास और छब्बीस दिन लगे थे। भावगत प्रतिभा संपन्न तुलसी जैसे कवि के लिए अपने स्वल्पकाल में इस विशाल ग्रंथ की रचना असंभव भी नहीं है। मानस में कवि के भक्त रूप और चिन्तक रूप अत्यंत मुखर है। बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड इसके लिए सर्वोत्तम सिद्ध होते हैं।

विश्व साहित्य में ‘मानस’ को श्रेष्ठतम महाकाव्यों में गिना जाता है। कुछ लोग इसे पुराण काव्य कहते हैं। डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के अनुसार— गोस्वामी तुलसीदास जी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसे सामान्यतः लोग रामायण कह दिया करते हैं। इस ग्रंथ रत्न की प्रशंसा में जो भी कहा जाय थोड़ा है। क्या भाषा और क्या भाव, क्या काव्य और क्या सिद्धांत, क्या रस परिपाक और क्या प्रबंध चातुरी, क्या साधुमत और क्या लोकमत, क्या अतीत कथा और क्या भविष्य पथ प्रदर्शन जिस दृष्टि से देखिए उसी दृष्टि से यह ग्रंथ अपूर्व जान पड़ता है।”

इन्द्रपाल सिंह ‘इन्द’ ने ‘तुलसी साहित्य और साधना’ ग्रंथ में कहा है कि— “‘रामचरित मानस’ की अवरूद्ध जीवनी, शक्ति और प्रवणता का सबसे पुष्ट प्रमाण यह है कि वह समग्र उत्तरी भारत में धर्मग्रंथ के रूप में मान्य है। उसकी धूपदीप, नैवेद्य से पूजा की जाती है। कोटि—कोटि जनता उससे नवीन शक्ति, नवीन प्राण स्फूर्ति और अमित आत्मतोष प्राप्त करती है तथा अपनी समस्याओं का समाधान खोजती है। उसका घर—घर पाठ होता है और विशिष्ट अवसर पर उसका अभिनय भी किया जाता है। अद्भुत जीवनशक्ति और प्राणवत्ता के कारण ही इस काव्य ने विश्व की अनेक समृद्ध भाषाओं में

अनूदित होने का गौरव प्राप्त किया है। विदेशी विद्वानों ने भी इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।”

सरलता ही इस ग्रंथ की विशेषता है। एक अपढ़ और निरक्षर भी इसकी पंक्तियाँ सुनकर मुग्ध हो जाता है और उन्हें याद कर लेता है। लोकोत्तर आनंद देने में यह काव्य ग्रंथ अनूठा है। शांति प्रदान करने के लिए एक अनुपम भक्ति ग्रंथ है। समाज संस्कार के लिये यह एक विशेष नीति ग्रंथ है। रामकथा प्रेमियों के लिए यह कंठहार सदृश है। तुलसी की महत्ता का प्रधान आधार यही एक ग्रंथ है जिसके गौरव के साथ उनका गौरव अभिन्न रूप से सम्बद्ध हो जाता है।

रामचरित मानस में तुलसीदास की रचनाकौशल, प्रबंधपटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार देखने मिलता है। मानस में रामकथा के मार्मिक स्थलों का वर्णन देखने को मिलता है जैसे— जनक की वाटिका में राम सीता का परस्पर दर्शन, राम—वन—गमन, दशरथ—मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री—पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगना इत्यादि। मानस में प्रसंगानुकूल भाषा है, शृंगार की शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन है।

आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामी जी का ‘रामचरितमानस’ विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाइयाँ कही जाती हैं। ‘रामचरित मानस’ केवल काव्य ही नहीं एक उपदेशक काव्य के रूप में हमारे सामने आता है।

(दीर्घ उत्तरीय प्रश्न)

प्रश्न 03 : निम्नलिखित में से किन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर दीजिए :

ख) ‘रासो’ से आप क्या समझते हैं ? हिंदी रासो काव्य परंपरा का परिचय दीजिए।

उत्तर :- ‘रासो’ शब्द एक विशिष्ट काव्य—पद्धति का सूचक है। चरित—काव्य, विकास—काव्य, मंगल—काव्य इत्यादि की तरह ही रासो—काव्य की अपनी सुदीर्घ परम्परा रही है। इस प्रकार के काव्य अपभ्रंश, हिन्दी (डिंगल और पिंगल) और गुजराती में मिलते हैं। ‘रासो’ नाम से अभिहित समस्त उपलब्ध रचनाओं को दो धाराओं में रखा जाता है— गीत—नृत्यपरक धारा में और छंद—वैविध्यपरक धारा। प्रथम प्रकार की रचनाएँ पश्चिमी

राजस्थान और गुजरात में तथा द्वितीय प्रकार की रचनाएँ पूर्वी राजस्थान और शेष हिन्दी-प्रदेश में रची गयीं हैं। प्रथम का आदर्श रूप उपस्थित करता है 'बीसलदेव रासो' और द्वितीय का 'पृथ्वीराजरासो'। 'पृथ्वीराजरासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव मिला है। निश्चय ही रासो-काव्य का हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ महत्व है। रासो-काव्यों में अभिरूचि रखने वाले अनेक विद्वान् समय-समय पर 'रासो' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति के विषय में विचार करते रहे हैं। उनके प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप इसकी व्युत्पत्ति के लिए अब तक रहस्य (श्री काशी प्रसाद जायसवाल), कविराज श्यामलदास, पं० रामनारायण जी दूगड़ आदि), रसायण (आचार्य शुक्ल), राजादेश, राजयश (डॉ० गियर्सन), राजसूय (गार्सा द तासी), राजयज्ञ (विन्ध्येश्वरी प्रसाद पाठक) और रास या रसिक (मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या), डॉ० चन्द्रबली पाण्डेय, मुंशी देवी प्रसाद, पं० गौरीशंकर हीरानंद ओझा, आचार्य द्विवेदी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० दशरथ शर्मा, पं० नरोत्तम स्वामी, आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) इत्यादि शब्द आये हैं। रासो के लिए प्रायः छह शब्द प्रचलित हैं— रास, रासा, रासो, रासौ, रायसा और रायसो। रासो-काव्य के इतिहास, उसकी परम्परा और भाषाशास्त्रीय ध्वनि विकास को ध्यान में रखकर उसकी व्युत्पत्ति 'रास' या 'रासक' शब्द से ही स्वीकार की गई है।

प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जाएगा कि 'रासक' शब्द 'काव्य' के अर्थ में भी व्यवहृत होता था। इसकी पुष्टि 'पृथ्वीराज रासो' के हस्तलेख की पुस्तिका और 'संदेश रासक' में प्रयुक्त 'रासक' शब्द से भी होती है। अस्तु, 'रासो' शब्द का विकास 'रासक' से ही मानना उचित प्रतीत होता है।

तेरहवीं शती में लिखित शारदातनय के 'भावप्रकाश' में लास्य नृत्य के क्रमशः शृंखला, लता, पिण्डी तथा भेदक चार भेदों में 'लता' के पुनः तीन भेद दण्डरासक, मण्डलरासक और नाट्यरासक मिलते हैं। रासो की गीत-नृत्यपरक धारा 'नाट्यरासक' से ही विकसित है। इसी प्रकार, अपभ्रंश काव्यशास्त्रियों ने 'रासक' और 'रासा बंध' काव्यों के लक्षण भी निर्धारित किये हैं। ऐसे बंध में अरिल्ल, दोहा, धत्ता, रड्डा, छप्पय, पछड़ी इत्यादि छन्द व्यवहृत हुए हैं। गेय नाट्यों के मसृण, उद्धत और मिश्र रूप में मिश्र रूप का ही संबंध रासक से अधिक दीखता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी 'रासक' को 'मिश्र गेय रूपक' मानते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'रासा बंध' के अंतर्गत रासाप्रधान छन्द-वैविध्य-परक काव्य ही आते थे। धीरे-धीरे सभी छन्दवैविध्यपरक काव्य

‘रासक’ कहे जाने लगे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी इन सारी बातों पर विचार करने के पश्चात् निष्कर्ष देते हैं कि “जिस प्रकार ‘विलास’ नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, ‘रूपक’ नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, ‘प्रकाश’ नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, उसी प्रकार, ‘रासो’ या ‘रासक’ नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गये।

अतः ‘रासो’ या ‘रासक’ शब्द एक विशेष प्रकार की काव्य-पद्धति रही है। इस काव्य-पद्धति की दो धाराएँ प्रारंभ से ही प्रचलित रही हैं— नृत्यगीतपरक रासो-धारा और छन्द वैविध्यपरक रासो-धारा। प्रथम धारा के अंतर्गत कृतियों की रचना विभिन्न उत्सवों और अवसरों पर नृत्य, वाद्य आदि के साथ गाये जाने वाले गीतों से संबंधित हैं। सम्भवतः ये कृतियाँ कभी-कभी अभिनीत भी होती थीं। इन कृतियों में प्रायः ग्रंथान्त में उनके माहात्म्य भी वर्णित हैं। दूसरे प्रकार की धारा में पायी जानेवाली रचनाओं में छंदों का वैविध्य है। यह अभिनेय बिल्कुल नहीं होती थी। ये पूर्णतः पाठ्य ही थी। इसकी पुष्टि ‘संदेश रासक’ की इस पंक्ति — “कह बहु रुचि णिवद्वउ राउस भावियक” से भी होती है। प्रथम धारा की सर्वश्रेष्ठ कृति नरपति नाल्ह का ‘बीसलदेव रासो’ और द्वितीय धारा की महत्वपूर्ण उपलब्धि ‘पृथ्वीरास रासो’ है।

नृत्यगीतपरक रासो-धारा में सबसे पहली उपलब्ध रचना है जिनदत्त सूरि की ‘उपदेश रसायन रास’। इसका रचना-काल है सन् 1143 ई०। 32 छंदों की इस रचना में धर्मोपदेश ही मूल विषय है। सन् 1184 ई० में शालिभद्र सूरि ने ऋषभदेव के दो पुत्रों— भरतेश्वर और बाहुबली के संघर्ष की कथा को लेकर 2003 छंदों में ‘भरतेश्वर बाहुबली रास’ की रचना की है। इनकी दूसरी रचना ‘बुद्धि रास’ है, जिसका विषय भी धर्मोपदेश ही है। पुनः ‘जीव दया रास’ (आसगु 1200 ई०), ‘जम्बूस्वामी रास’ (धर्मसूरि, 1209 ई०), ‘रेवंतगिरि रास’ (विजय-सेन सूरि, 1231 ई०), ‘आबू रास’ (पाल्हण, 1231 ई०), ‘गयसुकुमार रास’ (देल्हणि, 1243 ई०), ‘सप्तक्षेत्रि रासु’ (1270 ई०), ‘पेथड़ रास’ (मण्डलिए, 1303 ई०), ‘कच्छूलि रास’ (1306 ई०), ‘समरा रासु’ (अम्बदेव सूरि, 1314 ई०), ‘बीसलदेव रासो’ (नरपति नाल्ह, 1343 ई० के आस-पास) इत्यादि रचनाएँ मिलती हैं। इस धारा में रचनाओं की संख्या कई सौ के लगभग है। इनके रचयिता अधिकतर जैन कवि हैं। इनका मूल विषय है धर्मोपदेश। जैन धर्म के उपदेश को लेकर ही इन रचनाओं का निर्माण हुआ है। उपर्युक्त रचनाओं में अंतिम रचना (बीसलदेव रासो) को छोड़कर शेष रचनाओं की भाषा अपभ्रंश अथवा अपभ्रंश मिश्रित आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी की विभिन्न शैलियाँ ही हैं। जिन

रचनाओं का संबंध धर्मोपदेश से नहीं है, उनमें जैन महापुरुषों के चरित ही वर्णित हैं। इनका महत्व काव्य रूप को समझने के लिए एवं तत्कालीन भाषा के अध्ययन की दृष्टि से ही मानना चाहिए, काव्यत्व की दृष्टि से नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये काव्यत्व से पूर्णतः शून्य है। धार्मिकता के आग्रह के कारण काव्यत्व प्रायः दबा हुआ ही है। मात्र 'बीसलदेव रासो' ही ऐसी रचना है जिसमें धार्मिकता का आग्रह बिल्कुल नहीं है। यह शुद्ध साहित्यिक रचना ही है। यह रास-परम्परा की है, पर छन्दवैविध्यपरक नहीं, नृत्यगीतपरक है, पर जैनधर्मोपदेश अथवा चरितकाव्य नहीं, इसके छंद मात्र तीन प्रकार की कड़ियों से ही बने हैं। यह ग्राम-गीतों की परम्परा में विकसित लोककाव्य है। गेयता ही प्रमुख है। विरहानुभूति की व्यंजना ही इसकी विशेषता है। छन्दवैविध्यपरक रासो-धारा में पहली उपलब्ध रचना है अब्दुल रहमान का 'संदेश रासक'। इसके पूर्व 'मुंजरास' का भी पता चलता है, पर वह उपलब्ध नहीं है। इसके कुछ छंद हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और मेरुतुंग के 'प्रबंध-चिन्तामणि' में प्राप्त होते हैं। चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' इस धारा की महत्वपूर्ण कृति है। इस धारा की अन्य रचनाओं में निम्नलिखित रचनाएँ प्रमुख मानी जाती हैं— 'हम्मीर रासो' (1293 ई०), 'बुद्धि रासो' (जल्ह कवि चौदहवीं शती विक्रम), 'परमाल रासो' (जगनिक, सोलहवीं शती विक्रम), '213 जैतसी रासो' (माधवदास चारण, 1618 ई०) 'राणा रासो' (दयाल कवि, 1618 ई० के पूर्व) 'रतन रासो' (कुम्भकर्ण, 1623 ई०), 'कायम रासो' (न्यामत खाँ 'जान'), 'छत्रसाल रासो' (राव डूंगरसी, 1653 ई० के लगभग), 'माँकण रासो' (कीर्तिसुन्दर, 1700 ई०), 'संगत सिंह रासो' (गिरिधर चारण, 1698 ई० के लगभग), 'हम्मीर रासो' (जोधराज, 1728 ई०) 'खुमाण रासो' (दलपति विजय, 18वीं शती विक्रम) इत्यादि।

इस धारा की रचनाएँ बहुत पीछे तक होती रही है। इस धारा की अधिकांश रचनाएँ हिन्दी (डिङ्गल और पिंगल) में ही है। 'मुंजरास', 'संदेश रासक' और 'हम्मीर रासो' की भाषा मूलतः अपभ्रंश अथवा अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी है। शेष रचनाओं में अपभ्रंश नहीं के बराबर है। इस धारा में मात्र ऐतिहासिक पुरुषों को ही चरितनायक नहीं बताया गया है, अपितु एक ओर राम जैसे अवतारी पुरुष भी चरितनायक है (राम रासो, माधवदास चारण), तो दूसरी ओर खटमल जैसा तुच्छ जीव भी (माँकण रासो, कीर्ति सुंदर)। ऐतिहासिक चरित नायकों को आधार मानकर लिखे गये ग्रंथों में भी ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पनाशीलता पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। इन काव्यों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के

अनुसार— “भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य—निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण—संग्रह की ओर कम, कल्पना विलास का अधिक मान था, तथ्य—निरूपण का कम, सम्भावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम, उल्लसित आनंद की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार, इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा।”

पुनः आगे वे लिखते हैं— “वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा—नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकी, इतिहास नहीं।”

इस काव्यधारा की प्रमुख विशेषता है छंदों का वैविध्य। छंदों का वैविध्य यह स्पष्ट करता है कि इन काव्यों की रचना अभिनय आदि के लिए नहीं हुई थी। अपभ्रंशपरक रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्व है ‘संदेश रासक’ का। इसमें 216 से 223 छंद तक मिलते हैं। इसका रचनाकाल लगभग 1143 ई० माना गया है। कालिदास के ‘मेघदूत’ की तरह ही यह भी मूलतः संदेश—काव्य है। इसमें संदेशवाहक है—पथिक। इसका प्रथम सम्पादन मुनि जिनविजय ने किया था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे नवीन रूप में सम्पादित कर एक बड़ा कार्य किया है। इसके कवि के संबंध में भी भ्रांति है। कुछ लोग इसके रचनाकार अब्दुल रहमान को मानते हैं और कुछ लोग अद्दहमान। रचनाकार इस काव्य का विषय है विप्रलंभ—शृंगार। विरह—वर्णन में ऋतु—वर्णन का उत्कृष्ट रूप मिलता है। ‘बीसलदेव रासो’ की भांति ही इस रचना का अंत मंगलमय सूचक है।

प्रश्न 03 ग) हिंदी जैन साहित्य का परिचय दीजिए।

उत्तर :- जैन साहित्य का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। अधिकांश में वह धार्मिक साहित्य ही है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में यह साहित्य लिखा गया है। जिस प्रकार हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया है, उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने अपने मत का प्रचार हिन्दी

कविता के माध्यम से किया। इन कवियों की रचनाएँ आचार, रास, फागु, चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती हैं। आचार-शैली के जैन-काव्यों में घटनाओं के स्थान पर उपदेशात्मकता को प्रधानता दी गयी है। फागु और चरितकाव्य शैली की सामान्यता के लिए प्रसिद्ध है। 'रास' शब्द संस्कृत साहित्य में क्रीड़ा और नृत्य से संबंधित था। भरत मुनि ने इसे 'क्रीडनीयक' कहा है। अभिनव गुप्त ने 'रास' को एक प्रकार का रूपक माना है। लोक-जीवन में भी श्रीकृष्ण की लीलाओं के लिए 'रास' शब्द रूढ़ हो गया था और आज रचनाशैली का रूप दिया। जैन तीर्थकारों के जीवन चरित तथा वैष्णव अवतारों की कथाएं जैन आदर्शों के अवतरण में 'रास' नाम से पछबद्ध की गयी हैं। जैन मंदिरों में श्रावक लोग रात्रि के समय ताल देकर 'रास' का गायन करते थे। चौदहवीं शताब्दी तक इस पद्धति का प्रचार रहा। अतः जैन साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप 'रास' ग्रंथ बन गये। वीर गाथाओं में 'रास' को ही 'रासो' कहा गया है, किंतु उनकी विषय भूमि जैन-रासग्रंथों से भिन्न हो गयी है।

जैन साहित्य में देवसेन रचित 'श्रावकाचार' नामक प्रसिद्ध रचना है जिसका 933 ई० में प्रकाशन हुआ। ये एक अच्छे कवि तथा उच्च कोटि के चिंतक थे। हिन्दी में लिखित इनकी अन्य रचनाएँ 'लघुनयचक्र' तथा 'दर्शनसार' हैं जो काव्य की सीमा में नहीं आती हैं। 'श्रावकाचार' में 250 दोहों में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कवि ने गृहस्थ के कर्तव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है। इसकी रचना दोहा छंद में हुई है। 'भरतेश्वर-बाहुबली रास' भी जैन साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त करती है। इसके रचनाकार मुनि जिनविजय ने इस ग्रंथ को जैन-साहित्य की रास-परम्परा का प्रथम ग्रंथ माना है। इसकी रचना 1184 ई० में शालिभद्र सूरि ने की थी। ये अपने समय के प्रसिद्ध जैन आचार्य तथा अच्छे कवि थे। इस ग्रंथ में भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित-वर्णन है। ये दोनों चरित नायक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी काव्य-रचना का विषय रहे हैं। इस रचना में कवि ने दोनों राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का विस्तार से वर्णन किया है, किंतु हिंसा और वीरता के पश्चात विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। अतः वीर और शृंगार रसों का निर्वेद में अंत हुआ। 205 छंदों में रचित यह एक सुंदर खंड काव्य है। इसकी भाषा में नाटकीयता, उक्ति वैचित्र्य तथा रसात्मकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

जैन साहित्य की परम्परा को आगे बढ़ाने में आसगु कवि का नाम लिया जाता है इन्होंने लगभग 35 छंदों का एक लघु खंडकाव्य 'चंदन बाला रास' की रचना की जिसका समय 1200 ई० के लगभग माना जाता है। इसकी कथा—नायिका चंदन बाला अपने सतीत्व पर अटल रहकर सब दुःख सहती रही और अंत में महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त हुई इस लघु कथानक पर आधारित यह जैन रचना करुण रस की गंभीर व्यंजना करती है। भाव—सौन्दर्य के जितने चित्र इसके रचयिता ने अंकित किये हैं, सभी में उसकी काव्य—निष्ठा व्यंजित है।

'स्थूलिभद्ररास' जिसके रचनाकार जिन धर्मसूरि है तथा इसका प्रकाशन वर्ष 1209 ई० है। स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या के विषय में अन्य रचनाएं भी मिलती हैं, किंतु इस कृति की सभी घटनाओं से उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। अर्थात् घटनाओं के माध्यम से लौहघट के रूप में स्थूलिभद्र का संयम चित्रित करके कवि ने काव्य को विशिष्ट बना दिया है। कोशा वेश्या के पास भोगलिप्त रहने वाले स्थूलिभद्र को कवि ने जैनधर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है। काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है, फिर भी इसकी भाषा मूल रूप से हिन्दी है। धार्मिक दृष्टि से प्रेरित होने पर भी इसकी भावभूमि और अभिव्यंजना काव्यानुकूल है।

'रेवंतगिरिरास' की रचना विजयसेन सूरि ने की। 1231 ई० के लगभग लिखित इस काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा तथा रेवंत गिरि तीर्थ का वर्णन है। यात्रा तथा मूर्ति स्थापना की घटनाओं पर आधारित यह 'रास' वास्तुकलात्मक सौंदर्य का भी आकर्षण प्रस्तुत करता है। प्रकृति के रमणीक चित्र इस काव्य के भाव तथा कला पक्ष का शृंगार करते हैं।

'नेमिनाथरास' काव्य की रचना सुमति गणि ने 1213 ई० में की थी। नेमिनाथ ने अट्टावन छंदों की इस रचना का चरित्र सरस शैली में प्रस्तुत किया है। इसके प्रसंग में श्रीकृष्ण का वर्णन इसका विषय है और इन दोनों के माध्यम से विभिन्न भावों की व्यंजना हुई है। रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिंदी है।

आदिकालीन साहित्य में जैन साहित्य के ग्रंथ सर्वाधिक संख्या में और सबसे प्रामाणिक रूप में मिलते हैं। जैन रचनाकारों ने पुराण काव्य, चरित काव्य, कथा काव्य, रास काव्य आदि विविध प्रकार के ग्रंथ रचे गये हैं। स्वयंभू, पुष्पदंत आचार्य हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि

आदि मुख्य जैन कवि हैं। इन्होंने हिंदुओं में प्रचलित लोक कथाओं को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया।

जैन साहित्य की प्रवृत्तियाँ निम्न हैं— उपदेश मूलकता, विषय की विविधता, तत्कालीन स्थितियों का यथार्थ चित्रण, कर्मकाण्ड रूढ़ियों तथा परम्पराओं का विरोध, आत्मानुभूति पर विश्वास, रहस्यवादी विचारधारा का समावेश, काव्य रूपों में विविधता, शांत या निर्वेद रस का प्राधान्य, प्रेम के विविध रूपों का चित्रण, गीत तत्व की प्रधानता, अलंकार—योजना, छंद—विधान, लोकभाषा की प्रतिष्ठा इत्यादि प्रवृत्तियाँ हैं।

जैन साहित्य को अपभ्रंश साहित्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि अपभ्रंश साहित्य के रचयिता जैन आचार्य थे। जैन कवियों की रचनाओं में धर्म और साहित्य का मणिकांचन योग दिखाई देता है। जैन कवि जब साहित्य निर्माण में जुट जाता है तो उस समय उसकी रचना सरस काव्य का रूप धारण कर लेती है और जब वह धर्मोपदेश की ओर झुक जाता है तो वह पद्य बद्ध धर्म उपदेशात्मक रचना बन जाती है। इस उपदेश प्रधान साहित्य में भी भारतीय जनजीवन के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष के दर्शन होते हैं।

प्रश्न 03 घ)हिन्दी रामकाव्य परम्परा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर :- हिन्दी—रामकाव्य का आधार 'रामकथा' है। हिन्दी—रामकाव्य की परिधि बहुत व्यापक है। इसके अंतर्गत मात्र मौलिक रचनाएँ ही नहीं, अनूदित रचनाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस काव्य प्रवाह में एक ओर लोकरक्षण की भावना है। तो दूसरी ओर मधुरोपासना से रंजित शृंगारपरकता भी। कुछ रचनाएँ भक्तिपरक हैं, तो कुछ रचनाएँ विशुद्ध साहित्यिक। 'रामचरितमानस' के रूप में तुलसी कृत मानस भी यही अपना विकास कर सका है और छंदों के बंधन खोलने वाले निराला कृत 'राम की शक्तिपूजा' भी यहीं की है। अतः राम काव्य की परंपरा व्यापक एवं लम्बी है।

हिन्दी में रामकाव्य का प्रचलन होने से पूर्व इसकी रचना भारत की लगभग सभी भाषाओं में हो चुकी थीं। भारत ही नहीं, भारत के बाहर भी प्रचुर मात्रा में रामकाव्य रचे जा चुके थे। डॉ० कामिल बुल्के के अनुसार, वाल्मीकीय रामायण की रचना ई०पू० चौथी शताब्दी तक आवश्यक हो चुकी थी। इसके पश्चात् रामकाव्य बौद्धों के यहाँ जातक साहित्य (दशरथ जातक, अनामजातकम्, दशरथकथानम्) में पल्लवित होता है।

बौद्धों की भाँति जैनियों ने भी रामकाव्य की रचना की हैं। विमलसूरि ने प्राकृत में 'पउमचरिउ' में इसी कथा को जैन धर्म के साँचे में ढाला। 'जैनरामायण' (हेमचन्द्र), 'रामपुराण' (जिनदास), 'रामचरित' (पद्मदेव विजयमणि), 'पउमचरिउ' (स्वयम्भू), 'उत्तरपुराण' (गुणभद्र) इत्यादि रचनाएँ रामकथा को लेकर ही सामने आयीं।

संस्कृत में रामसाहित्य का पल्लवन भक्तिसाहित्य के रूप में लगभग नहीं के बराबर हुआ है। वहाँ यह ललित साहित्य के रूप में ही विकसित हुआ है। रामकथा का विषय वहाँ महाकाव्य अथवा नाटक तक ही सीमित नहीं है। इसके आधार पर अनेक श्लेषकाव्य, विलोमकाव्य, चित्रकाव्य, दूतकाव्य और शृंगारिक काव्य रचे गये हैं। महाकाव्यों का आधार वाल्मीकीय रामायण ही रहा है। महाकाव्यों में 'सेतुबंध', 'भट्टिकाव्य' और 'जानकीहरण' प्रमुख हैं। 'जानकीहरण' के शृंगारवर्णन का आधार 'कुमारसंभव' ही प्रतीत होता है। नाटकों में भास के दो नाटक 'प्रतिभा' और 'अभिषेक' भी रामकथा से ही सम्बन्धित हैं। 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', 'कुन्दमाला', 'अनर्धराधव', 'बालरामायण', 'उदात्तराधव', 'प्रसन्नराधव' इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार, अन्य काव्यरूपों में भी रामकथा का पर्याप्त विकास हुआ है।

संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में तथा एशियाई भाषाओं में रामकाव्य का पर्याप्त विकास हुआ है। उदाहरणस्वरूप तमिल का 'कम्बन रामायण', तेलुगु का 'रंगनाथ रामायण', बँगला का 'कृत्तिवासीय रामायण', गुजराती का 'गिरधर रामायण', मराठी का 'भावार्थ रामायण', उड़िया का 'जगमोहन रामायण' नेपाली का 'अपना रामायण' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। विदेशी रामायणों में 'तिब्बती रामायण', पूर्वी तुर्किस्तार का 'खोतानी रामायण', कम्बोडिया का रामकेर्ति इत्यादि महत्वपूर्ण हैं।

हिन्दी में रामकाव्य का प्रारंभ मूलतः भक्तिकाल के रूप में होता है। दक्षिण-भारत में पनपने वाले भक्ति के चार सम्प्रदायों में श्रीसम्प्रदाय ने रामभक्ति का पूर्ण प्रचार किया है। श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य की भक्ति नारायण में केन्द्रीभूत थी, फिर भी इनके श्री सम्प्रदाय में राम को महत्वपूर्ण स्थान मिला। पुनः इसी सम्प्रदाय के अंतर्गत राम को परमपुरुष परमेश्वर तथा सीता को मूल प्रकृति के रूप में दास्यभक्ति के प्रतिपादन के लिए स्वीकार किया गया। रामभक्ति के प्रचार का श्रेय रामानन्द जी को दिया जाता है। ये श्री सम्प्रदाय में अवश्य दीक्षित हुए थे, पर इन्होंने स्वतंत्र सम्प्रदाय चलाया। रामानंद से पूर्व दक्षिण भारत में रामभक्ति नामदेव और त्रिलोचन के द्वारा पनप चुकी थी।

उत्तर-भारत में भी सदर और बेनीराम ने रामानंद के पूर्व ही रामभक्ति का प्रचार किया था, पर रामानंद के प्रयत्नों से आगे वे प्रयत्न छिप गये। रामानंद ने 'श्रीवैष्णवमताब्धभास्कर' और 'श्रीरामार्चन पद्धति' जैसे सिद्धांत ग्रंथों की रचना भी की है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि संत-कवि कबीर और भक्त-कवि तुलसी रामानंद की शिष्य परम्परा में हैं। पर कई विद्वानों ने रामानंद को सगुण-रामभक्ति-प्रचारक की अपेक्षा निर्गुण-रामभक्ति-प्रचारक ही अधिक माना है। स्वामी अग्रदासजी ने राम की परम्परागत वैधी भक्ति के प्रतिकूल मधुरा भक्ति का प्रचलन किया। इनका सम्प्रदाय 'सखी सम्प्रदाय' के नाम से जाना गया। ये अपने को जानकी जी की एक सखी के रूप में मानते थे। इस भक्ति के परिणाम स्वरूप 'रामाष्टयाम' और 'रामध्यान मंजरी' का प्रणयन हुआ।

रामभक्ति में तुलसी का स्थान उस सुमेरु के समान है जिसके एक ओर चढ़ाई का उत्साह है तो दूसरी ओर उतराई की थकान। तात्पर्य यह कि रामकाव्य के दार्शनिक आधारों और दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करते समय तुलसी के दृष्टिकोण को ही प्रमुखता मिलनी चाहिए। दर्शन पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि रामकाव्य के दर्शन का मूलाधार है 'अध्यात्मरामायण'। दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्म, जीव, माया और जगत् ही विचारणीय हैं। रामभक्तों ने ब्रह्म को सगुण तथा राम से अभिन्न माना है। मायाश्रित राम ही निर्गुण भी है और सगुण भी। वे नर होकर भी नारायण हैं। वे हैं तो विष्णु के अवतार, पर सच्चिदानंद भी हैं। वे मायातीत तो हैं ही, 'विधि हरि सम्भु नचावत हारा' भी हैं।

हिन्दी-रामकाव्य की प्रवृत्तिगत प्रमुख विशेषताओं की चर्चा के समय हमें यह याद रखना चाहिए कि आधुनिक काल को छोड़कर प्रायः समस्त रामकाव्य 'भक्ति भावना से ओतप्रोत है। साथ ही, इस काव्यधारा में तुलसी का स्थान इतना अधिक ज्योतिषित है कि अन्य कवि उनके आगे चमक नहीं सके हैं।

निर्गुण उपासना रामनाम की साधना तक ही सीमित न रहकर राम-कथा को भी निर्गुणवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर चले थे। उदाहरण स्वरूप, शृंगारकालीन सन्त-कवि दरिया साहब का 'ज्ञानरत्न', मलूकदास की 'रामअवतारलीला' और तुलसी साहब का 'घटरामायण' लिये जा सकते हैं। इन रचनाओं में रामकथा का निरूपण निर्गुणवादी दृष्टिकोण से हुआ है। सगुण भक्ति धारा में रामकाव्य को महत्वपूर्ण रूप में उपस्थित करने वाले हैं तुलसीदास। उपलब्ध सामग्रियों के अनुसार रामकाव्य के कर्त्ताओं में प्रथम नाम

रामानंद का ही लिया जाएगा। 'रामरक्षास्तोत्र' इनकी प्रामाणिक रचना है। इसमें हनुमान-सीता, राम आदि की स्तुतियाँ हैं।

हिन्दी का तथाकथित प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' एक प्रकार से कथाकोश कहा जाय, तो बड़ी बात नहीं। रासो के द्वितीय समय में दशावतारकथा के अंतर्गत रामकथा का वर्णन लगभग एक सौ छंदों में हुआ है। इस कथा का मुख्य कार्य है लंका-युद्ध। हिन्दी-रामकाव्य के कर्त्ताओं में सूरदास का नाम उल्लेखनीय है 'सूरसागर' में लगभग डेढ़ सौ फुटकल पद ऐसे मिलते हैं, जिनमें रामकथा के मार्मिक प्रसंगों का उद्घाटन सूरदास ने किया है। रामकथा से संबंधित पद 'सूरसागर' के दशम स्कंध में आये हैं। इन पदों में प्रथम बार रामकथा विशुद्ध काव्यात्मक रूप ग्रहण करती है। रामकाव्य की परंपरा को आगे बढ़ाने में विष्णुदास, ईश्वरदास ने क्रमशः वाल्मीकीय रामायण का रूपान्तर, 'भरतमिलाप' और अंगद पैज' रचना करके योगदान दी है। आचार्य केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में वाल्मीकीय रामायण की तरह राम को नर के रूप में अधिक वर्णित किया है, नारायण कम। इसमें तुलसी की भक्ति और प्रबंधपटुता का अपेक्षाकृत अभाव है। संवादों की दृष्टि से यह अधिक महत्वपूर्ण बना है।

तुलसीदास के समकालीन अन्य रामकाव्य में 'राम-प्रकाश' (सुतिलाल), 'आदि रामायण' (सोठी मेहरवान), 'रामायण महानायक' (प्राणचंद चौहान), 'हनुमन्नाटक' (हृदयराम), 'लक्ष्मणायन' (रामानंद), 'राम-रासो' (माधौदास) इत्यादि हैं। भक्तिकाल में तुलसीदास के पश्चात् 'हनुमच्चरित' (रामल्ल पाण्डेय), 'अवधविलास' (लाल दास), 'अवतारचरित' (नरहरिदास) तथा सेनापति के 'कवित्तरत्नाकर' की चौथी (रामायण वर्णन) और पाँचवी (रामरसायनवर्णन) तरंग इत्यादि के नाम लिये जायेंगे। तुलसीदास की रामकाव्य पर आधारित रचनाएँ निम्न हैं— 'रामललानहछू', 'रामाज्ञाप्रश्न', 'जानकी मंगल', 'रामचरितमानस', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका', 'बरवै', 'दोहावली', 'कवितावली' और 'हनुमान बाहुक' इत्यादि। इन रचनाओं में प्रबंध, निबद्ध, और मुक्तक तीनों प्रकार के काव्य हैं। सबसे शीर्ष-स्थानीय है— 'रामचरितमानस'।

रामकाव्य की रचना की दृष्टि से शृंगारकाल अधिक उर्वर रहा है। उस समय की प्रमुख रचनाओं में 'रामचरित रामायण' (भूपति), 'गोविंदरामायण' (गुरु गोविन्द सिंह), 'दशरथराय' (सुखदेव मिश्र), 'बालचरित' (केशवदास), 'श्रीरामायण' (ज्ञामदास), 'रामरसायन' (पद्माकर)। सुप्रसिद्ध स्त्रोतम् (रुद्रप्रताप सिंह), 'सीताहरण' (मैथिल कवि शिवदत्त),

‘दशरावउत’ (महाराज पृथ्वीराम), ‘गुणराम-रासा’ (माधवदास चारण), ‘सीताचरित’ (रामचन्द्र) इत्यादि के नाम महत्वपूर्ण हैं।

आधुनिक युग में रामकाव्य की स्पष्टतः दो धाराएँ मिलती हैं— पूर्ववर्ती धारा जो परम्परा के रूप में विकसित होती है और खड़ी बोली की विशुद्ध काव्य-धारा। पूर्ववर्ती धारा में प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ चलती हैं। इस धारा के प्रमुख प्रबंध काव्यों में है— ‘रामरसायन’ (रसिकबिहारी), ‘विश्राम सागर’ (रघुनाथ दास), ‘अवधविलास’ (बाधेलि कुँवरि), ‘कोशल किशोर’ (बलदेव प्रसाद मिश्र), ‘मैथिली रामायण’, (चन्दा झा), ‘श्री रामावतार’ (शिवरत्न शुक्ल ‘सिरस’), ‘राममडैया’ (वंशीधर शुक्ल), ‘श्रीरामचन्द्रोदय’ (रामनाथ ज्योतिषी)।

द्विवेदी-युग के उपरांत – छायावाद-युग में रचित खड़ी बोली का रामकाव्य सुधरा हुआ रूप लेकर उपस्थित होता है। इसमें न तो भक्ति का आग्रह है और न ही असीम स्वच्छंदता। एक बँधी सीमा और मर्यादा में ये रामकाव्य रचे गये हैं। इस समय की रचनाओं में छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। छोटी रचनाओं में ‘राम की शक्तिपूजा’ (निराला), ‘प्रदक्षिणा’ और ‘पंचवटी’ (गुप्त जी) खण्डकाव्य का रूप लिये हैं। महाकाव्यों के रूप में ‘रामचरित चिन्तामणि’ (रामचरित उपाध्याय), ‘साकेत’ (गुप्त जी), ‘वैदेही-वनवास’ (अयोध्या सिंह उपाध्याय), ‘साकेत संत’ (बलदेव प्रसाद मिश्र), ‘कैकेयी’ (केदारनाथ मिश्र ‘प्रभात’), ‘उर्मिला’ (बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’), ‘विदेह’ (पोद्दार रामावतार) इत्यादि। रामकथा को उपजीव्य बनाकर उपन्यास तथा अनेक गद्यग्रंथ लिखे गये हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उत्तर भारत के निवासियों के लिए यह नैतिक मेरुदण्ड का किसी ने काम किया है तो इस रामकाव्य ने ही। साथ ही, इसने ऐहिक उत्थान के लिए भी हमें प्रेरित किया है। तुलसी के मानस के समक्ष आगे का राम साहित्य सदा फीका लगा, जिससे अन्य रचनाओं का न तो समादर हुआ और न पठन-पाठन। रामकाव्य मूलतः प्रबन्धात्मक रहा है। सबमें प्रबंध रचना की क्षमता होती भी नहीं है। फिर, शृंगारकाल तो प्रबंध की दृष्टि से प्रायः अक्षम ही रहा है। तत्कालीन परिस्थितियाँ भी रामकाव्य के प्रतिकूल ही रही हैं। रामकाव्य जिस मर्यादा और गम्भीरता को लिये चल रहा था, उसके सम्यक् निर्वाह की क्षमता का अभाव भी इसके विकास में बाधक बनता रहा है। निश्चय ही, रामकाव्य भारतीयों के लिए प्राणस्वरूप है। आज इसे बदलती परिस्थितियों के अनुसार हमें बनाना है।

प्रश्न 3 (ड) 'सूफी काव्य' से आप क्या समझते हैं ? हिन्दी सूफी काव्य परम्परा पर एक निबंध प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—हिन्दी सूफी काव्य का तात्पर्य प्रेमाख्यानक काव्य से समझा जाता रहा है अनेक विद्वानों ने सूफी काव्यधारा को इस्लामी धारा के रूप में मान्यता दी है। इसे इस्लाम का लघु संस्करण समझा जाता रहा है। इसमें इस्लामी कट्टरपन की जगह प्रेम को मिली है। सूफी संतों ने हिन्दी में फारसी की मसनवी के आधार पर प्रेमकथाएँ लिखने की परम्परा कायम की है। ऐसी बात नहीं है कि इससे पूर्व भारत में प्रेमकथाएँ नहीं लिखी गयी थीं। भारत में प्रेमाख्यानों की एक लम्बी परम्परा रही है।

सूफी प्रेमाख्यानक में सूफी शब्द एक मत-विशेष के अनुयायियों का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में विभिन्न प्रकार के मत सामने आये हैं। कुछ लोग इसे 'सुफ' से व्युत्पन्न मानते हैं, जिनका अर्थ है अग्रिम पंक्ति। कतिपय विद्वान मदीना की मस्जिद के समक्ष 'सुफा' चबूतरे पर बैठने वाले फकीरों को सूफी कहते हैं। कुछ लोग इसे 'सफा' (पवित्रता) से जोड़ते हैं। अन्य विद्वान इसे 'सूफा' (अरब की एक जाति) या 'सुफाह' (भक्त विशेष) का ही रूपान्तर मानते हैं। आज सर्वाधिक मान्यता यह है कि 'सूफ' का संबंध 'ऊन' से है। अस्त, सूफी से तात्पर्य अरब या इराक के कुछ वैसे व्यक्तियों से है जो मोटे ऊनी वस्त्रों को पहना करते थे। ये संन्यासियों का जीवन व्यतीत करते थे। अपनी महत्वपूर्ण साधना के कारण ही ये मुसलमानों में अगली पंक्ति में खड़ा होने का दावा रखते हैं। आठवीं शती तक सूफी साधना आचरण प्रधान थी। बाद में इसमें दार्शनिकता आयी। जिसमें अलहुज्वरी का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी रास्ता में आगे चलकर जायसी हुए।

सूफी प्रेमाख्यान सोद्देश्य रचना है। कुछ विद्वान इसे धर्म कथा के अंतर्गत स्थान देते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने प्रेमाख्यानों का वर्गीकरण करते हुए इतिवृत्तात्मक, मनोरंजनात्मक और प्रचारात्मक नामक तीन भेद किये हैं तथा बौद्धों और जैनों के प्रेमाख्यान को पूर्णतः प्रचारात्मक कहा है। भारतीय सूफियों ने प्रेमाख्यानक काव्य की रचना मसनवी शैली में ही की है। इन लोगों के विभिन्न पंथों में ईश्वर की अलग-अलग मान्यताएँ हैं। सूफी काव्य के अंतर्गत कुछ लोग ईश्वर को जगत से परे मानते हैं। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि वह बाहर भी है और अंदर भी। ये सृष्टि में मानव को सर्वोत्तम मानते हैं। इनके अनुसार, वली या पीर ही पूर्ण मानव है। ये 'फना' और 'बड़ा' को भी

मानते हैं। इनके यहाँ साधना की साथ सीढ़ियों मान्य है— अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दारिद्र्य, धैर्य, विश्वास, संतोष और प्रेम। चार उच्चतर सोपान (मोकामात) है— शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत। ये नासूत में शरीअत, मलकूल में तरीकत, जबहत में मारिफत और लाहूत में हकीकत की उपलब्धि करते हैं। शैतान को इन्होंने बाधक रूप में स्वीकार किया है। इसे हटाने वाला ही गुरु या पीर है। अस्तु, यहाँ गुण का विशेष स्थान है। साधना की सीढ़ियों में सर्वाधिक स्थान मिला है प्रेम को। इश्क मजाबी से इश्क हकीकी की उपलब्धि ही इनका ध्येय है। जहाँ तक सूफी प्रेमाख्यानों की बात है, इनके आधार के संबंध में आ० शुक्ल का अनुमान है कि— “वे सब हिन्दुओं के घरों में चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकतानुसार इन्होंने कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिन्दू है।” इन्हीं से मिलता-जुलता मत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का है— “वे लोक प्रचलित कथा में नये अर्थ को भरते हैं।” सूफी धारा के लेखक कुतुबन ने मृगावती में लिखा है, “यह कथा पहले से चली आ रही थी। इसमें संयोग, शृंगार और विरह रस वर्तमान था। मैंने दुबारा फिर उसी को लिपिबद्ध किया है।” ‘पुनि हम खोली अरथ सब कहा’ वाली कुतबन की उक्ति मात्र ‘मृगावती’ पर ही नहीं, समस्त सूफी प्रेमाख्यानों पर लागू होती है। सबसे समृद्ध ‘पद्मावत’ जैसे सफल सूफी प्रेमाख्यान का भी यही हाल है। पद्मावती की कथा भी लोकगाथात्मक ही रही है। जायसी ने ‘पद्मावत’ में कुछ प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है। उसी में ‘मधुमालती’ का भी उल्लेख है। उस्मान की ‘चित्रावली’, शेखनबी का ‘ज्ञानदीपक’, नूर मुहम्मद की ‘इन्द्रावती’, कासिम साह का ‘हंस जवाहिर’, ख्वाजा अहमद की ‘नूरजहाँ’, नूर मुहम्मद की ‘अनुराग बांसुरी’ इत्यादि रचनाएँ हैं। इनमें विशुद्ध काल्पनिक कथानकों के प्रयोग ही मिलता है।

सूफी प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियों के अंतर्गत प्रबंधात्मकता, भावव्यंजना, चरित्र-चित्रण, लोकपक्ष और हिन्दू-संस्कृति की अभिव्यक्ति, प्रतीकों का प्रयोग भावव्यंजना विशेष के लिए, शृंगार रस की व्याप्ति, मण्डनात्मक वृत्ति, नारी-चित्रण, अवधी भाषा का प्रयोग, दोहा और चौपाई मूल छंद के रूप में प्रयुक्ति हैं।

हिन्दी-प्रेमाख्यानों में सूफी प्रेमाख्यानों का बाहुल्य है। प्राप्त सामाग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि सूफी प्रेमाख्यानों की रचना चौदहवीं शती में प्रारंभ हो चुकी थी। सम्भवतः प्रथम रचना मुल्ला दाऊद की ‘चन्दायन’ या ‘लोरिक चन्दा’ है। मुल्ला

दाऊद अलाउद्दीन के समकालीन थे। इन्होंने चन्दा और लोरिक की कहानी कही है। इनके पात्र राजन्य वर्ग के नहीं, साधारण ही हैं। इन्होंने घटनाओं का वर्णन अधिक किया है।

दूसरे सूफी कवि हैं कुतुबन। इनका समय 15वीं शती का अंतिम और 16वीं शती का प्रथम भाग है। उनकी रचना है 'मृगावती'। पुनः, मंज़न की 'मधुमालती' का नाम आता है। इसमें प्रेम संबंध परियों के द्वारा होना कथित है। इसमें प्रायः कुतुबन के आदर्श का ही पालन मिलता है। उसमान की 'चित्रावली' में घटना विस्तार अधिक है। नायक-नायिका मिलन में दूतों का सहारा लिया गया है। प्रायः 'पद्मावत' के आदर्श का ही यहाँ पालन मिलता है। इसी रचना के समानान्तर जलालुद्दीन की 'जमाल पच्चीसी' मिलती है। उसमान के समसामयिक कवि जौन ने अनेक छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की है। 'रत्नावली' विशेष उल्लेखनीय है। अन्य रचनाएँ 'मधुकर-मालती', 'नल-दमयन्ती', 'लैला मजनू' तथा 'कथा खिसर खाँ शहजादे' इत्यादि हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं शती की अवधि में सूफी रचनाएँ ठंडी पर जाती हैं। इस समय न तो किसी में जायसी की प्रतिभा थी, न मंज़न और उसमान की सहृदयता और न जौन की योग्यता। इस काल में 'नूरजहाँ', 'भाषा प्रेमरस', 'प्रेमदर्पण', इत्यादि रचनाएँ ही सामने आती हैं। इस प्रकार सूफी काव्य की परम्परा चौदहवीं शती से आज तक विभिन्न रूप में चलती आ रही है।

सूफी कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है जायसी। इनका क्रम मंज़न के बाद आता है। अतः साक्ष्य के आधार पर 10वीं सदी हिजरी इनका काव्यकाल है। इनका जन्म रायबरेली के जायस नगर में माना जाता है। ये निजामुद्दीन औलिया की शिष्यपरम्परा में पड़ते हैं। 'आखरी कलाम', 'अखरावट' और 'पद्मावत' उनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं। 'पद्मावत' विशुद्ध साहित्यिक कृति ठहरती है। रतनसेन और पद्मावती की कथा द्वारा कवि ने लौकिक प्रेम में अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है।

सूफी प्रेमाख्यानों की रचना केवल हिन्दी में ही नहीं, अपितु अन्य भाषाओं में भी हुई है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त का प्रथम तर्क यह है कि प्रेमाख्यान केवल सूफियों ने ही नहीं बल्कि हिन्दुओं ने भी लिखा है, जिनकी संख्या अधिक है। ईश्वरदास (सत्यवती), पुहकर (रसरतन), सूरदास लखनवी (नलदमन), मेघराज साहा (मृगावती), दुखहरण दास (पुहुपावती), हेमरत्न सूरि (पदिमनी), नंददास (रूपमंजरी), काशीदास (कनकमंजरी) इत्यादि के नाम इस धारा में लिये जाते हैं। सूफी काव्य धारा में प्रेम लौकिक रूप में ही निरूपित

है, अलौकिक रूप में नहीं। इनका उद्देश्य मनोरंजनात्मक था। यत्र-तत्र रहस्यवाद की प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति मिलती है। निःसंदेह सूफी प्रेमाख्यानों से हिन्दी को एक नयी दिशा मिली थी। इसी का परिणाम था कि अवधी को साहित्यिक महत्व मिला, जिसमें आगे चलकर मानस के रूप में भारतीयों का मानस तैयार हुआ। दूसरी बात यह कि इन प्रेमाख्यानों ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता की जो रीति चलायी थी, यदि उसका मनोवैज्ञानिक विकास हो पाता तो शायद आज हिन्दुस्तान में पाकिस्तान की कल्पना न हो पाती।